स्वामी विवेकानन्द का सार्वभौम धर्म की विवेचना

डॉ० संध्या चौहान

सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, महाबोधी महाविद्यालय, नालन्दा, बिहार

सार

विवेकानन्द कहते हैं कि सार्वभौम धर्म में यह भी विशष्टता होनी चाहिए कि वह हर मन को सहजरूप में स्वीकार्य हो। इसी कारण विवेकानन्द कहते हैं कि 'सार्वभौम धर्म' में दर्शन, भावना, कर्म, रहस्यवादिता आदि सभी के लिए स्थान होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द की याद आते ही एक ऐसे तेजस्वी व्यक्ति का चित्र आँखों में उभर आता है, जिसके शरीर पर वस्त्र तो हिन्दू संन्यासी के हैं, पर जिसके अन्तर में समूची मानवता के लिए दर्द भरा हुआ है। विवेकानन्द की मान्यता है कि मानव जाति के भाग्य को दिशा-निर्देश देने वाली शक्तियों में शायद सबसे सबल प्रभाव धर्म का ही रहा है।[1] वे इस बात को बार-बार दोहराते हैं कि धर्म जीवन का एक अनिवार्य पक्ष है। सामान्यत: जीवन के लिए उन्हीं वस्तुओं को अनिवार्य समझ जाता है, जो हमारी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करती हैं। भोजन, वस्त्र, आवास आदि को इसी दृष्टि से जीवन के लिए अनिवार्य माना जाता है। इनसे हमारी शारीरिक एवं भौतिक माँगों की पूर्ति होती है। किन्तु विवेकानन्द का कहना है कि हमारे जीवन की आवश्यकताएँ इन्हीं भौतिक आवश्यकताओं तक सीमित नहीं है। विवेकानन्द स्पष्ट रूप में कहते हैं कि सार्वभौम धर्म को मानने का अर्थ अलग से किसी धर्म को मानने की आवश्यकता नहीं है; हम चाहे जिस धर्म को अंगीकार करें, उसी में डूबें, उसी की विशष्टता के अनुरूप चलें, हम सार्वभौम धर्म को मानने लगेंगे। अत: अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी हम संकीर्णता से ऊपर उठा सके, तो हमारा धर्म ही 'सार्वभौम धर्म' बन जाता है। यह तो बाद में उसकी अभिरूचि एवं मनोवृत्ति पर निर्भर करता है कि वह किस धर्म को स्वीकार लें। धर्मों के सार्वभौम होने की दूसरी शर्त यह है कि ऐसे सार्वभौम धर्म में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह विभिन्न संस्थानों को संतुष्ट एवं तृप्त कर सके।

शब्द कुँजी: सार्वभौम, ज्ञानात्मक, भावनात्मक, क्रियात्मक, संकीर्णता, आध्यात्मिकता, बौद्धिक, बुद्धिवादी

भूमिका:

जब नरेन स्वामी विवेकानन्द हुए, उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखाई पड़े। सबसे बड़ा काम धर्म की पुन: स्थापना का था। बुद्धिवादी मनुष्यों की धर्म पर से श्रद्धा, केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत् सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाय, जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो मनुष्य की इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले।

विवेकानन्द की मान्यता है कि मानव जाति के भाग्य को दिशा-निर्देश देने वाली शक्तियों में शायद सबसे सबल प्रभाव धर्म का ही रहा है।[1] वे इस बात को बार-बार दोहराते हैं कि धर्म जीवन का एक अनिवार्य पक्ष है। सामान्यत: जीवन के लिए उन्हीं वस्तुओं को अनिवार्य समझा जाता है, जो हमारी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करती हैं। भोजन, वस्त्र, आवास आदि को इसी दृष्टि से जीवन के लिए अनिवार्य माना जाता है। इनसे हमारी शारीरिक एवं भौतिक माँगों की पूर्ति होती है। किन्तु विवेकानन्द का कहना है कि हमारे जीवन की आवश्यकताएँ इन्हीं भौतिक आवश्यकताओं तक सीमित नहीं है। इस बात का सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि जिन्हें सुख, सुविधा की सारी वस्तुएँ उपलब्ध हैं, वे भी उससे संतुष्ट नहीं हो पाते। हर प्रकार की भौतिक सम्पन्नता के उपलब्ध रहने पर भी उनसे ऊब उत्पन्न होने लगती है तथा व्यक्ति इससे कुछ उच्चतर आकांक्षाओं की पूर्ति का इच्छुक हो जाता है। इसी उच्चतर आकांक्षाओं की ओर सतत् प्रेरित होते रहना धार्मिक जरूरत है तथा यह भी जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है।

विवेकानन्द जब धर्म को जीवन के लिए अनिवार्य कहते हैं, तो उनका तात्पर्य इन उच्चतर आकांक्षाओं से है जो स्पष्टत: हर जीवन में अनिवार्यत: वर्तमान है। विवेकानन्द धर्म की अनिवार्यता का निर्देश करते हैं कि इससे एक ऐसी

विवशता है कि धर्म का पूर्ण परित्याग असंभव है। जहाँ-जहाँ धर्म के परित्याग पर सशक्त रूप से बल दिया गया है, वहाँ-वहाँ धर्म का परित्याग ही धर्म बन गया है। किसी काल या किसी देश में कभी भी धर्म का पूर्ण निरबंध नहीं हो पाया। इसके उन्मूलन के सशक्त प्रयत्न भी होते रहे, किन्तु सदा ध र्म जीवित अवश्य रहा भले ही उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। जब कभी भी ऐसा प्रतीत हुआ है कि धर्म का विनाश हो रहा है, किसी न किसी रूप में धर्म पुर्नस्थापित हुआ है। इस ऐतिहासिक तथ्य से धर्म की अनिवार्यता स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाती है।

धर्म का उद्भवः

विवेकानन्द के लिए यह समस्या बड़ी महत्वपूर्ण है कि धर्म का उद्भव कैसे हुआ है। विवेकानन्द कहते हैं कि सामान्यतः इस संबंध में दो सिद्धान्तों को विद्वानों के द्वारा मान्यता मिली है। एक तो जीवात्मवाद का सिद्धान्त है तथा दूसरा सिद्धान्त यह मानता है कि धर्म की उत्पति परात्मकता की ओर उन्मुख होने में होती है। जीवात्मवाद के समर्थकों ने यह विचार दिया है कि किसी न किसी प्रकार के जीवात्म-पूजा से धर्म का प्रारम्भ हुआ है, वह पूजा मृत आत्मा का हो या पूर्वजों का हो या किसी अन्य प्रकार की जीव शक्ति का। दूसरे सिद्धान्त में यह कहा गया है कि कुछ प्राकृतिक शक्तियों की प्रबलता से ऐसा भय उत्पन्न हुआ, ऐसी स्तब्धता आयी कि लोगों ने प्रकृति के उन रूपों में कुछ पराशक्ति जैसी शक्ति को मान लिया तथा उसकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। इनके अनुसार धर्म का यही प्रारम्भिक रूप था।

विवेकानन्द कहते हैं कि यदि हम इन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करें तो देखेंगे कि उनमें कुछ समान विचार हैं। इन समान विचारों का विवरण विवेकानन्द अपने ढंग से करते हैं, वे इसे इन्द्रियों की सीमाओं से परे उठने का संघर्ष कहते हैं। उनका कहना है कि यदि विचार कर देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि जीवात्म-पूजा तथा प्रकृति-पूजा-दोनों के पीछे इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने की प्रवृत्ति विद्यमान है।

प्रारम्भिक मनुष्य के लिए मृत्यु एक विस्मयकारी घटना थी। एक सबल तथ्य सक्रिय व्यक्ति एका-एक निर्जीव हो जाता है। प्रारम्भिक मानव के पास इन्द्रिय-आश्रित जो जानकारी उपलब्ध थी, उनसे इस तथ्य की व्याख्या संभव नहीं थी। इन्द्रियाँ जीवन को देखती थी, निर्जीवता को कैसे देख पाती? तो इन्द्रियों को परे जगत् में सम्पर्क स्थापित करने के प्रयास का एक रूप जीवात्म पूजा के रूप में उभरा। उसी प्रकार भीषण वर्षा, तूफान, बिजली की चमक, बादल की गरज, बाढ़, आग जैसी समस्याओं के लिए प्रारम्भिक मानव के पास कोई व्याख्या नहीं थी। मनुष्य में इनमें से कुछ विशिष्ट प्रकार की शक्तियों की पूजा प्रकृति-पूजा के रूप में उभरी। अतः मनुष्य ने इनमें कुछ विशिष्ट प्रकार की शक्तियों को मान लिया जो इन्द्रियों को दिखाई नहीं देती। उन्हीं शक्तियों की पूजा प्रकृति-पूजा के रूप में उभरी। अतः इन दोनों उदाहरणों में इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने का स्पष्ट प्रयत्न है। विवेकानन्द के अनुसार इसी प्रयत्न में धर्म की उत्पत्ति है।

धर्म का स्वरूपः

विवेकानन्द स्वीकारते हैं कि धर्म की परिभाषा नहीं दी जा सकती, धर्म के स्वरूप का पूर्णतया निश्चित विवरण नहीं दिया जा सकता। धर्म की असंख्य परिभाषाएँ दी गई हैं, वे भी गलत नहीं हैं, किन्तु उनमें से कोई धर्म के सभी पक्षों को पूर्णतया समाविष्ट नहीं कर पाती। अतः विवेकानन्द का कहना है कि धर्म के स्वरूप को समझने का सर्वश्रेष्ठ ढंग यही हो सकता है कि हम यह देखें कि किन बातों के नहीं रहने पर किसी क्रिया को धार्मिक क्रिया नहीं कहा जा सकता।

धर्म का एक आन्तरिक पक्ष होता है तथा एक बाह्य पक्ष होता है। बाह्य पक्ष अनावश्यक या अप्रासंगिक नहीं है। इस पक्ष की सार्थकता एवं मूल्य एक विशेष रूपमें ही स्पष्ट होता है, किन्तु इतना तो है ही कि इस बाह्य पक्ष की धार्मिकता भी निर्धारित होती है, लेकिन उसी अवस्था में जब वह धर्म के आन्तरिक पक्ष के अनुकूल-अनुरूप हो। अतः उनका कहना है कि धर्म की विशिष्टता को समझने के लिए इसके बाह्य पक्ष के स्थान पर इसके आन्तरिक पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। विवेकानन्द का कहना है कि धर्म के स्वरूप को समझने के लिए धार्मिकता को समझना आवश्यक है और ध ार्मिकता धर्मबोध है,धार्मिक चेतना है। यह वह विशेष प्रकार की आन्तरिक अनुभूति है जिसकी हर प्रकार की अभिव्यक्ति धर्म का स्वरूप स्पष्ट करती है।[1]

विवेकानन्द धार्मिकता का विश्लेषण करते हुए कहते हैं

कि इसमें भी मानसिकता के तीनों अंश विघमान हैं। ये तीनों अंश हैं- ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक। यह ठीक है कि ये तीनों हर धार्मिक मानसिकता में समान मात्रा में विद्यमान नहीं रहते। जिस धर्म में जिस अंश की प्रधानता होती है उस धर्म को उसी के अनुरूप चित्रित किया जाता है, जैसे- जिस धर्म में भावनात्मकता की मात्रा अधिक होती है उसे भावना प्रधान धर्म कहा जाता है तथा जहाँ ज्ञान, चिंतन, मनन पर अधिक बल दिया जाता है उस धर्म को ज्ञानमार्गी धर्म कहा जाता है और जिन धर्मों में कर्म एवं क्रियात्मकता पर बल दिया जाता है, उसमें धार्मिक कर्म तथा रीति-रिवाजों का बाहुल्य हो जाता है। धर्म के स्वरूप की विवेचना में विवेकानन्द यह भी कहते हैं कि धर्म केवल इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न ही नहीं करता, बल्कि वस्तुत: इसका लक्ष्य शुद्ध बौद्धिक विवेचनाओं से भी ऊपर उठने का है। उनका विश्वास है कि धार्मिक चेतना अन्तत: ऐसे तथ्यों को उजागर करती है जिसके विषय में इन्द्रिय आश्रित संवेदनाओं तथा शुद्ध बौद्धिकता का कोई आभास नहीं मिल पाता। इसी कारण कभी-कभी धर्म को 'इन्द्रियातीत', 'अनुभवातीत' के साथ-साथ 'अतिबौद्धिक' भी कहा जाता है।[2]

विवेकानन्द कहते हैं कि धर्म का अर्थ आध्यात्मिकता को जाग्रत करना है। आध्यात्मिकता के अन्तर्जगत् में वैसी सभी चेष्टाओं को रखा जाता है जो ऐन्द्रिक तथा बौद्धिक चेष्टाओं से ऊपर उठने का प्रयत्न करती हैं। अत: धर्म को आध्यात्मिक कहने का सरलतम अर्थ तो यही है कि यहाँ 'इन्द्रियों' तथा 'बुद्धि' की सीमा से परे जाने की चेष्टा है। ऐसी स्थितियाँ उपस्थित होती रहती हैं तथा प्राकृतिक शक्तियों की प्रबलता कभी-कभी इस रूप में प्रस्तुत होती है कि उनके समक्ष मानव को अपनी अपूर्णता तथा अपनी सीमितता की स्पष्ट अनुभूति होती है। ऐसी अनुभूतियाँ मानव को 'विह्वल', 'व्याकुल' बना देती हैं तथा इसका निराकरण उसका लक्ष्य हो जाता है। इसी प्रयत्न में वह इन्द्रियों तथा बुद्धि की सीमा से ऊपर उठकर कुछ प्राकृतिक तथा दैविक आधारों को ढूंढ़ लेता है। विवेकानन्द के अनुसार यही धर्म है, यही उसकी धार्मिकता की अनुभूति है।

विवेकानन्द समझते हैं कि धर्म का एक अन्य प्रकार से भी महत्व एवं मूल्य है। यह मन उच्चतम तथा सर्वथा स्वस्थ अनुशासन है। इन्द्रियों तथा बुद्धि की सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न, असीम एकत्व की अनुभूति का प्रयत्न- यह सब ऐसे अनुशासन हैं जिससे श्रेष्ठतर अनुशासन की कल्पना भी मानव मन के द्वारा सम्भव नहीं है। इस अनुशासन के विचार में भी अजीब प्रसन्नता एवं संतुष्टि है। इसके द्वारा मनुष्य सामान्य सांसारिक झंझटों, क्लेशों तथा अशुभ रूपों से ऊपर उठता जाता है तथा आन्तरिक शांति एवं आनंद की ओर उन्मुख होता है। यही कारण है कि इतिहास के हर काल में धर्म एक सशक्त प्रेरक के रूप में जीवित रहा है। विवेकानन्द स्पष्ट कहते हैं कि जिस प्रकार का प्रभाव धार्मिक आदर्शों का मानव मन पर पड़ता है, वैसा प्रभाव किसी अन्य आदर्श का नहीं पड़ता है। किन्तु, विवेकानन्द हर स्थल पर एक सावधानी रखने की चेतावनी देते हैं। उनका कहना है कि हमारे लिए सदा 'वास्तविक धर्म' तथा 'साम्प्रदायिक धर्म' के अन्तर को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना अनिवार्य है। संस्था तथा सम्प्रदाय धर्म को एक अनावश्यक रूप से सीमित कर देते हैं तथा उसे 'शाखाओं' में विभाजित कर उनकी पृथकता पर बल देते हैं। इसी प्रवृत्ति में धार्मिक द्वेष तथा आपसी संघर्ष का बीज विद्यमान है। विवेकानन्द का कहना है कि वास्तविक धर्म संस्था एवं सम्प्रदायों का धर्म नहीं है, वह तो वास्तविक अर्थ में 'सार्वभौम धर्म' है। धर्म की सार्वभौमता धर्म का सार है। वास्तविक धर्म संस्थाओं में बंधा हुआ नहीं होता। धर्म तो वास्तविक तभी होता है, जब वह वास्तविक अर्थ में सार्वभौम हो जाय।[3]

विवेकानन्द का कहना है कि हर धर्म के तीन अनिवार्य अंग होते हैं- उसका दर्शन पक्ष, उसका पौराणिक पक्ष तथा उसका धार्मिक रीति-रिवाज एवं कर्म का पक्ष। ये तीनों हर ध र्म में विद्यमान रहते ही हैं। उसके दर्शन पक्ष के अन्तर्गत उस धर्म के सभी सिद्धान्त, उसके चरम लक्ष्य एवं आदर्शों तथा आदर्श प्राप्ति के मार्ग आदि का विवरण रहता है। दार्शनिक विचारों की जटिलताएँ एवं सूक्ष्मताएँ उनका अवबोध कठिन बना देती है। अत: धर्म उन्हें मूर्तरूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है तथा इसी प्रयत्न में वह अतिमानवीय शक्तियों को देव रूप देकर उनके सम्बन्ध में गाथाओं, मिथकों का आविष्कार करता है तथा उन कहानियों के माध्यम से दार्शनिक विचारों को मूर्तरूप में प्रस्तुत करता है। यह धर्म का पौराणिक पक्ष है। इनके अतिरिक्त धर्म का एक रीति-रिवाज सम्बन्धी धार्मिक

पक्ष भी होता है जिसमें धार्मिक कर्मों की अनुशंसा होती है।

विवेकानन्द स्वीकारते हैं कि हर धर्म का अपना विशिष्ट दर्शन, अपने ढंग की पौराणिक गाथाएँ तथा अपने ढंग के धार्मिक रीति-रिवाज होते हैं। वे यह भी स्वीकारते हैं कि इसी भिन्नता के कारण विभिन्न धर्मों में आपसी वैमनस्य, प्रतिद्वन्द्विता तथा संघर्ष आदि उत्पन्न होते रहते हैं। किन्तु विवेकानन्द का कहना है कि धर्म यदि वास्तविक अर्थ में सार्वभौम है तो उसे इन संघर्षों से ऊपर उठना है, उसके दर्शन, उसकी मिथक गाथाएँ, उसके धार्मिक रीति-रिवाज यदि सभी को वास्तविक अर्थ में सार्वभौम होना है।[4]

सार्वभौम धर्म का स्वरूप एवं आदर्श:

यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विश्व में विभिन्न धर्मों का आर्विभाव हुआ है जिनमें अपनी विशिष्टता के अनुरूप भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वास के आयामों तथा भिन्न-भिन्न धार्मिक कर्म-सम्बन्धी आचरण एवं नियमों की स्थापना हुई है। यह भी इतिहास सिद्ध है कि प्राय: सभी काल में इन धर्मों में आपसी संघर्ष होते रहे हैं। फलत: हर धर्म अपने सिद्धान्तों तथा अपने सम्प्रदायों को श्रेष्ठतम समझता रहा है। किन्तु इन विवादों तथा स्पष्ट संघर्षों के बीच यह विलक्षण तथ्य भी स्पष्ट है तथा यह भी इतिहास सिद्ध है कि हर प्रधान धार्मिक सम्प्रदाय इन संघर्षो के साथ ही जीवित रहा है।

विवेकानन्द को यह तथ्य बड़ा महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि धर्मों का यह संघर्ष वस्तुत: ऊपरी संघर्ष है। वे धर्मों के अन्तर को, उसके मूल को प्रभावित नहीं करते, क्योंकि यदि धर्मों का अन्तर प्रभावित हुआ होता तो उनमें शिथिलता आती, सबलता नहीं आती। विवेकानन्द कहते हैं कि एक दृष्टि से संघर्ष, वैचारिक मतभेद एवं विवाद आदि तो प्रकृति के अनिवार्य सोपान हैं। यदि मतभेद हो ही नहीं, हर व्यक्ति एक ही विचार सोचे, तो शीघ्र ही विचार बंध कर रूक जायेगा। उनके अपने शब्दों में 'भंवर गतिशील नदी की धारा में ही होते हैं, बंधे, रूके, स्थिर जलाशय में नहीं।[5] परन्तु यदि मतभेद एवं विवाद का होना धर्मों के लिए अनिवार्य है तो धर्म सार्वभौम कैसे हो पायेगा।

विवेकानन्द के अनुसार इसी प्रश्न के समाधान में सार्वभौम धर्म का स्वरूप उभरता है। सार्वभौम धर्म की सार्वभौमता मूलत: दो अनिवार्य लक्षणों पर आधारित होती है। एक बात तो यह है कि धर्म सार्वभौम तभी हो सकता है जब इसका द्वार सब के लिए खुला रहे। धर्म को यह बात देखनी है कि नवजात शिशु अबोध तथा निर्दोष है, वह किसी धर्म के साथ पैदा नहीं होता। यह तो बाद में उसकी अभिरूचि एवं मनोवृत्ति पर निर्भर करता है कि वह किस धर्म को स्वीकार लें। धर्मों के सार्वभौम होने की दूसरी शर्त यह है कि ऐसे सार्वभौम धर्म में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह विभिन्न संस्थानों को संतुष्ट एवं तृप्त कर सके।[6]

विवेकानन्द कहते हैं कि यदि हम थोड़ा विचारपूर्वक ध्यान दें तो देखेंगे कि विश्व के विभिन्न धर्मों में कोई मैलिक विरोध नहीं है, कोई किसी दूसरे का खण्डन नहीं करता, बल्कि हर धर्म में हर दूसरे धर्म के विचारों की पृष्टि ही होती है। धर्म का केन्द्र जो 'सत्य' है वह इतना व्यापक है कि एक साथ उसके सभी पक्षों पर विचार भी नहीं किया जा सकता है। हर धर्म उसी 'सत्य' के किसी पक्ष या पहलू पर ध्यान देता है तथा भावातिरेक में समझ बैठता है कि 'सत्य' में बस वही एक 'पक्ष' है। धार्मिक विवाद का मूल कारण यही है। वस्तुत: हर धर्म में उस 'सत्य' के किसी पक्ष को प्रकाशित कर उस विचार को विकसित करने का कार्य होता है। इस दृष्टि से हर धर्म एक-दूसरे का पूरक है, सहयोगी है, विरोध नहीं। विरोध तो तब होता है जब हम अपनी आंशिक दृष्टि को पूर्ण दृष्टि समझ लेते हैं, परन्तु, साथ ही विवेकानन्द को यह भी चेतना है कि सभी धर्मों की तुलना कर उन सब में समान रूप से विद्यमान लक्षणों को ढूढ लेना कठिन ही नहीं प्राय: असंभव है। विभिन्न धर्मों में धर्मों के विभिन्न पक्षों तथा पहलुओं पर बल दिया जाता है। उदाहरणत: इस्लाम में विश्वबन्धुत्व पर बल दिया गया है, हिन्दू धर्म में अध्यात्म पर सर्वाधिक बल दिया गया, ईसाई धर्म में प्रेम तथा सेवा के द्वारा आत्मशुद्धि पर बल दिया गया है। इन सब की तुलना कर सादृश्यता के बिन्दुओं को पा-लेना सरल नहीं है। अत: जब विवेकानन्द 'सार्वभौम धर्म' की वास्तविकता पर बल देते हैं, तो उनका तात्पर्य ऐसे किसी धर्म से नहीं है जिसमें सभी धर्मों के समान लक्षण समाविष्ट हैं। 'सार्वभौम धर्म' से वे किसी ऐसे धर्म को सूचित नहीं कर रहे जिसका दर्शन, मिथक तथा धार्मिक कर्म सभी सार्वभौम हैं। उन्हें ये पता है कि कोई

सार्वभौम दर्शन या सार्वभौम मिथक या सार्वभौम धार्मिक रीति संभव ही नहीं है। ये सब संस्थानुसार भिन्न-भिन्न हो ही जाते हैं, बल्कि दर्शन तथा कर्म तो व्यक्ति-व्यक्ति में पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। फिर भी उनका कहना है कि 'सार्वभौम धर्म' है। यह कोई अलग कोटि का कोई सर्वथा अनूठा धर्म नहीं है। विवेकानन्द कहते हैं कि वस्तुतः हर धर्म 'सार्वभौम धर्म' है। हम अपनी सुविधा तथा बाह्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस धर्म की सार्वभौमिता की उपेक्षा कर उसे साम्प्रदायिक बना देते हैं। विवेकानन्द स्पष्ट रूप में कहते हैं कि सार्वभौम धर्म को मानने का अर्थ अलग से किसी धर्म को मानने की आवश्यकता नहीं है। हम चाहे जिस धर्म को अंगीकार करें, उसी में डूबें, उसी की विशिष्टता के अनुरूप चलें, हम सार्वभौम धर्म को मानने लगेंगे। उसके लिए केवल कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथमतः तो यह आवश्यक है कि जिस धर्म में भी हम हों उसके अनावश्यक बाह्य रूपों पर ध्यान केन्द्रित कर हम बैठे नहीं रहें, बल्कि उसकी आन्तरिकता को समझें। हम अपने धर्म का पालन खुले हृदय से करें, अर्थात् यह समझते हुए करें कि मेरे लिए तो यही मार्ग है, किन्तु अन्य मार्ग भी संभव है। हमें यह समझ होनी चाहिए कि 'सत्य' को प्राप्त करने के अनेकों मार्ग संभव हैं।

निष्कर्षः

अतः 'सार्वभौम धर्म' की प्रवृति का मूल इस विचार में है कि हमारे मार्ग के अतिरिक्त अन्य मार्गों की संभावना है। हर धर्म 'सार्वभौम धर्म' हो सकता है यदि वह अपने मार्ग की वास्तविकता के साथ अन्य मार्गों को भी वास्तविक समझे। इसीलिए विवेकानन्द ने शिकागो के धर्म महासभा में कहा था- अतः अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी हम संकीर्णता से ऊपर उठ सके, तो हमारा धर्म ही 'सार्वभौम धर्म' बन जाता है। इसी कारण विवेकानन्द कहते हैं कि 'सार्वभौम धर्म' में दर्शन, भावना, कर्म, रहस्यवादिता आदि सभी के लिए स्थान होना चाहिए। वह जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अनुर्मजदा, बौद्धों का बुद्ध, याहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको शक्ति प्रदान करें। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात करके पुष्टिलाभ करें और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।... शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय विशेष की ऐकान्तिक सम्पत्ति नहीं है एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं अतिशय उन्नत चरित्र पुरुषों को जन्म दिया है। शीघ्र ही, सारे प्रतिरोधों के बावजूद, प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा-'सहायता करो, लड़ो मत, पर-भव ग्रहण, न कि परभाव-विनाश, समन्वय और शांति, न कि मतभेद और कलह।

इस प्रकार रूढ़ियों, आडम्बरों और बाह्यचारों से ऊपर उठाकर स्वामीजी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की। जिसका परिणाम यह हुआ कि सदियों के वीरान चिंतन के खिसकते रेत में डूबे भारत का उद्धार वहीं के एक संन्यासी ने किया और नीचे दबे रहस्यवाद के सम्पूर्ण सरोवर ने अपने बंधन तोड़ दिये और वह बड़ी लहरों-सी फैलने लगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूचीः

1. Adiswaranada , S. (Ed.) (2006): Vivekanand World Teacher: His Teachinig on the spiritual unity of Humankind.
2. Chaudhari,P. & Pandey,R.: विवेकानन्द का सार्वभौम धर्म का विचारः सद्भव का मार्ग. TJER,11 (10)
3. Kumari, J. (2013). स्वामी विवेकानन्द का सार्वभौम धर्म एक समीक्षात्मक अध्ययन, Golden Research Thoughts, 2(12).
4. Chauhan,S. (2016). योद्धा सन्यासी सार्वभौम धर्म, International Journal of Mutidiscilinary Research and Development , 3 (8) 382-383.
5. Islam,S.(2022).Posibilityand relevance of universal religion: as envisaged by swami Vivekanand. Philosophical Papers(Jounal of Department of Philosophy), XVIII,8-21, University of North Bengal.
6. Medananda,S. (2022): Grounding Religious Cosmopolitanism. In Swami Vivekananda`S Vedantic Cosmopolitanism, 91-138